॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रंथमाला—८

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितामूर्ति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण

विरचिता

श्रीमद्भागवतदशमस्कंध सुबोधिनी

(जन्मप्रकरण, द्वितियोऽध्यायः)

–हिन्दीभाषानुवाद–

अनुवादक—

पं. कृष्णकिशोर द्विवेदी "आयुर्वेदाचार्य"

प्रकाशक—

वैष्णव मित्र मंडल इन्दौर.

वसन्तोत्सव, माघ शुक्ल ५, संवत् २००२

वल्लभाब्द ४६८ ता० ६, फरवरी १९४६

श्रीसुबोधिनी ग्रंथमाला हिन्दी अनुवाद पर

—: प्राप्त सम्मति :—

(५)

श्रीहरिर्जयति

कवि-काव्यरत्नाकर-कविचूडामणि-शुद्धाद्वैतभूषण, कविरत्न, महामहोपदेशक, विद्यालंकार, वेदान्तविद्यानिधि सनातनधर्ममार्तण्ड-

पंडितभट्ट श्रीबलभद्रलालाजी महाराज

श्रीनाथजी का मन्दिर
सतीबुर्ज
मथुरा

श्रीयुत् पंडितवर्य्य श्रीकृष्णकिशोरजी आयुर्वेदाचार्य !

आपके द्वारा सम्पादित श्रीसुबोधिनी-हिन्दी अनुवाद के अंक प्राप्त हुए। पढ़कर बहुत प्रसन्नता हुई। हिन्दी भाषा-भाषी जगत् में सम्प्रदाय-ज्ञान के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता की ओर सैकड़ों वर्ष से उत्पन्न हुई नितान्त अक्षम्य उपेक्षा ने वैष्णव समुदाय को सर्वथैव स्वरूप से प्रच्युत कर रक्खा है। आपने श्रीसुबोधिनीजी का हिन्दी अनुवाद प्रकट करने का शुभारंभ कर एक अत्यन्त आवश्यकता की पूर्ति की ओर वैष्णव जनता का लक्ष्य आकर्षित किया है। आपका किया हुआ अनुवाद प्रसन्न-सरस-सरल और वस्तुतत्व-स्पर्शी है। इस अपूर्व अपेक्षित अलौकिक और अलभ्य वस्तु के रस का आस्वाद आप करते हैं और कराते हैं, यह आपका अहोभाग्य है। श्रीमदाचार्यचरणों की आप पर पूर्ण कृपा बढ़ती रहे-बस इतना ही प्रार्थनीय है। मि. फा. व. १, रविवार संवत् २००२ शुभम्।

भवदीय,

पंडित भट्ट श्री बलभद्र शर्म्मा

॥ विजयतां श्री विट्ठलेशः प्रभुः ॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कंधपूर्वार्धजन्मप्रकरणीय

श्री सुबोधिनी हिन्दी भाषानुवाद

मू० — बिभर्षिरूपाण्यवबोधआत्मन्,
क्षेमायलोकस्यचराचरस्य ।
सत्वोपपन्नानिसुखावहानि,
सतामभद्राणिमुहुः खलानाम् ॥२९॥

अर्थ—हे ज्ञानैक स्वरूप, आत्मन्! आपही चराचर ऐसे लोक के कल्याण करने के हेतु सत्वोपपन्न (सत्वगुण से उत्पन्न) सत्पुरुषों को सुखावह और खल पुरुषों के लिये अभद्र कारक ऐसे रूपों को बारंबार धारण करते हैं ॥ २९ ॥

श्री सुबोधिनी

अब फल कहा जाता है--आप ज्ञान रुप आत्मा में रुपों को धारण करते हैं। जो लोग पूर्वोक्त (पहले कहे हुवे) प्रकार से आपकी सेवा करते हैं उनके रुप (आप) ज्ञान रुप आत्मा में धारण करते हैं और उनको "सायुज्य" प्रदान करते हैं; अथवा ज्ञान रुप आत्मा की सिद्धि के लिये अर्थात् आत्म प्राप्ति के लिये अवतार धारण करते हैं। जिससे कि भक्तगण उस "चित्" रुप आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् के रुप (अवतार) ग्रहण करने में अन्य भी कारण हैं। अतएव "संपूर्ण चराचर लोक के कल्याण के हेतु भगवत्प्राकट्य हैं" ऐसा कहा गया है। न्यायशास्त्र को जाननेवाले "चराचर" शब्द से ब्राह्मण क्षत्रियादिकों को ग्रहण करते हैं, किन्तु-चर अर्थात् प्राणी; और अचर याने पृथ्वी आदि स्थावर पदार्थ, इन दोनों के कल्याण के हेतु आप (भगवान्)अवतार ग्रहण करते हैं। इस तरह यहां के (मृत्युलोक) फल के दान के लिये भी भगवदवतार है, ऐसा निर्दिष्ट हैं। ब्रह्मादि भी गुणों (सत्व, रज, तम) से युक्त होने के कारण भगवान् है, अतः रजोगुण तथा तमोगुण से भी भगवदवतार होता है? ऐसी शंका के समाधानार्थ ही मूल श्लोक में "सत्वोपपन्नानि" सत्व से युक्त ऐसा कहा गया है। मत्स्यादि अवतार लोकानुसारी (लोको को दिखाई देवें, ऐसे) हैं।

ब्रह्मा तथा महादेवादि आधिदैविक देवों के भी अवतार सत्वयुक्त हैं ? इसके निराकरणार्थ "सुखावहानि" जो सम्पूर्ण प्राणीमात्र के सुख का वहन करते हैं ऐसे भगवान् हैं, यह कहा गया है। यहां पुनः शंका होती है कि--क्या भगवान् दैत्योंको भी सुखदायक है तदर्थ कहा है कि--"सताम्" अर्थात् सज्जन पुरुषों के लिये ही भगवान् सुखावह है। खल पुरुषों के लिये तो अमंगल कारक है। मूल में "खलानां" (दुष्टों के) कहकर लक्षणों सहित दैत्यों का निर्देशन है।

संपूर्ण दोषों के निधान खल ही है जो कि दूसरों को दुःख देते हैं। इन संपूर्ण खलों को भगवान् वारंवार दुःख देते हैं ॥२९॥

पू०—त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्वधाम्नि,
समाधिनावेशित चेतसैके।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन,
कुर्वन्ति गोवत्सपद भवाब्धिम् ॥३०॥

अर्थ—हे कमलनयन ! कई लोग अखिल सत्व के धाम रुप आप में समाधि द्वारा चित्त को स्थिर करके, महत्पुरुषों द्वारा बनाई गई आप के चरणारविन्दरुपी नौका से संसार सागर को गोवत्सपद (गाय के बछड़े के पांव के समान) बनाते हैं ॥ ३० ॥

श्री सुबोधिनी

इस प्रकार लौकिक रुप से चारों (प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल) का वर्णन करके स्मृत्ति के प्रकार से पुनः चारों का चार श्लोक द्वारा वर्णन करते हैं—

स्मृतियों मे योग "धर्म कहा गया है। वह योग कई प्रकार का है अतः जोयोग देव हित कारक धर्म रुप है उसी का निरुपण करते हैं।

हे कमल नेत्र ! संपूर्ण सत्व के धाम रुप ऐसे आपमे समाधि द्वारा चित को स्थिर करके आपके चरणारविन्द रूपी नोका से संसार सागर को गोवत्स पद बनाते हैं। "योग" मे साक्षात् भगवान् (जीव को) संसार के पार करते है यह सिद्ध है।

"अम्बुजाक्ष" यह कहकर भगवद्दर्शन के द्वारा ही पाप नष्ट होते है यह प्रकट किया गया है।

जो योग तृतीय स्कंध मे निरुपण किया गया है वह भगवत्सम्बन्ध वाला "सर्वात्मक" है। यह "अखिल सत्व धाम्नि" पद द्वारा कथित है। (आप) संपूर्ण सत्वों के प्राणियों के धाम रुप है; अर्थात् संपूर्ण सत्व गुण के भंडार है। ऐसे भगवान् मे "आ" चारो ओर से "वेशितम्" प्रवेश किया हुआ चित्त है जिसमे ऐसी समाधि द्वारा आप के चरणारविन्द नोका बन जाते हैं; नाव समुद्र के पार जाने का साधन है। पृथ्वी रुप, आकाश रुप अथवा अक्षर रुप "चरणारविन्द" नौका है।

पृथ्वी नौका रुप है तथा आकाश विष्णुपद है।

भगवान् स्वयं जिसमे भावित है ऐसी समाधि मे भगवान् के स्वयं के होने पर भगवच्चरणारविन्द नाव नहीं हो सकता है, और समाधि मे कल्पना किये हुये संसार मे स्वयं भगवान् है अतः वे नौका कैसे हो सकते हैं ? इस शंका के निराकरणार्थ—"महत्कृतेन" महत्पुरुषों द्वारा किये हुये ऐसा कहा गया है। महान् पुरूष संपूर्ण पदार्थों के साधन एवं साध्य को प्राप्त कर लेते हैं, अतएव समाधि में ही भगवत्स्फूर्ति होने पर वह "चरण" संसार को पार करने वाला हो जाता है यह अलौकिक सामर्थ्य है अतः यहां युक्ति द्वारा विरोध नहीं करना चाहिये।

जिस प्रकार यज्ञादि द्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है उसी प्रकार यह भी अदृष्ट शक्ति द्वारा होता होगा? इस शंका के लिये कहा है कि- "महत्कृतेन" महान् पुरुषों द्वारा यह किया गया है; भगवच्चरणारविन्द को नौका महान् पुरूषों ने ही बनाया है। यह नौका हृदय को एवं संसार को व्याप्त हो कर स्थित रहे ऐसी बनाई गई है उसमें असाधारण कारण समाधि ही है।"गोवत्स पदं" द्वारा यह ज्ञात होता है कि—उत्तीर्ण (पार किये गये) संसार की स्थापना नहीं है वत्सपद द्वारा तुच्छता प्रकट की गई है; इस प्रकार संसार में स्थित लोग भी संसार को तुच्छ मानते हैं। संसार सागर उनकी दृष्टि में ज्यादा गंभीर नहीं है इसलिए वत्सपद कथित है। समाधि में रह कर भी समाधि के निर्वाहक इस संसार को अत्यन्त तुच्छ मानते हैं। सिद्ध हुवे योगी स्वयं सम्पूर्ण संसार को शोषण करके अपने योग निर्वाह इतना ही संसार स्थापन करते हैं। संसार के वत्सपद के समान होने पर भी वे महापुरूष अन्य का उद्धार किये बिना स्वयं पार नही होते हैं; अतः इस संसार को वत्सपद बना कर जब तक दूसरों का उद्धार नहीं होता तब तक वैसे ही बैठे रहते हैं। इसलिये संसार को "वत्सपद" कहा गया है। यहां प्रमाण की समाप्ति है। ॥३०॥

मू०—स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्,
भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते,
निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥३१॥

अर्थ--हे द्युमन्-प्रकाशरुप ? सफल मित्रता वाले ऐसे महापुरुष अत्यन्त दुस्तर एवं भयानक ऐसे भवसागर को स्वयं ही अच्छी प्रकार पार होकर आपके चरणारविन्द रुपी नौका को यहां पर रख कर चले गये हैं। आप सत्पुरुषों पर विशेष अनुग्रह करने वाले हैं ॥३१॥

श्री सुबोधिनी

उपर कहे गये प्रमाण द्वारा जो सिद्ध होता है; वह "प्रमेय" कहा जाता है — उत्तीर्णत्व की स्थापना नही होने से भवसागर के वत्सपद बनाये जाने पर जो सम्पूर्ण का

अनुवाद किया जाय तो सुदुस्तर ऐसा भवार्णव-भयंकर होता है। सम्पूर्ण शास्त्र मोक्ष प्रतिपादक होने से मोक्ष एवं संप्रदाय प्रमेय होते हैं। वे सत्पुरुष स्वयं अच्छी प्रकार उत्तीर्ण होकर आपके चरण कमल रुपी नौका को यही पर छोड कर चले गये हैं।

उत्तीर्ण होना अत्यन्त दुर्घट होता है इसीलिये "अच्छी प्रकार उत्तीर्ण हुवे हैं" ऐसा कहा जाता है।

कारण कि समुद्र स्वयं दुस्तर है; और उसमें भी मकर आदि का निवास होने से अच्छी प्रकार से दुस्तर है। भव सागर—व्यसन, मृत्यु, जल, आदि के द्वारा संपूर्ण अलौकिक कारण के सामर्थ्य का घातक है। स्वयं भी भयानक है। "हे द्युमन्" यह संबोधन प्रकट करता है कि—भगवच्चरणारविंन्द तीनों दोषों को नष्ट करने में समर्थ है। जिस प्रकार सूर्य संपूर्ण जगत् में पूरित अन्धकार, जड़ता एवं भय को निवारण करता है। उसी प्रकार आपके चरण-कमल की कृपा से वे भी संसार से उत्तीर्ण हो जाते हैं। अन्य जीवों का उद्धार कैसे होता है; तथा अन्य के उद्धार में उनकी क्या अपेक्षा है? इन प्रश्नों के समाधानार्थ "अदभ्रसौहृदाः" कहा गया है अर्थात् जिनकी मित्रता छिद्र रहित है ऐसे वे महान् पुरुष हैं। पहले ही कही हुई मित्रता सार्थक होती है अतएव वे महान् पुरुष इस संसार सागर से पार होकर बाद के लोगों के लिये मित्रता के कारण ही इसको पार होने के उपाय रखे गये हैं। वह उपाय आपके चरण रुपी नौका ही है। वे लोग पार हुवे हैं इसी से संसार का अधिक भाग उनका अनुसरण करके पार हुआ है। नौका रुप चरण भी सुखद एवं सर्व प्रदर्शक हैं। उनकी कृपा से ही अत्यन्त गंभीर चरण नौकारुप हैं तथा समुद्र नदी के समान हैं।

इस प्रकार की चरणरुपी नौका को वे सत्पुरुष यहीं पर छोड़ कर चले गये हैं। वे लोग अत्यन्त प्रयास से भगवान् की आराधना करके तथा भगवान् को वश में करके चरणरुपी नौका में बैठकर संपूर्ण चरणों में ही समर्पित करके पार हुये हैं। किन्तु उनके उपदेशी तो वैसे नहीं है तो इस प्रकार कैसे पार हो सकते है? अतः कहते है कि "आप सदनुग्रही है" सत्पुरुषों पर अनुग्रह करने वाले हैं। इस अर्थ में सम्मति भी प्रदर्शित है ॥३१॥

मू०—येन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः,
त्वय्यस्त भावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः,
पतन्त्यधोनादृत युष्मदङ्घ्रयः ॥३२॥

अर्थ—हे अरविन्दाक्ष! जो विमुक्तमानी है वे आपके विषय में नष्ट भाव वाले होने के कारण अविशुद्ध बुद्धि वाले हैं, वे लोग अत्यन्त कष्ट से परम पद का आरोहण करके भी आपके चरणारविन्द का अनादर करके वहां से नीचे गिरते है ॥३२॥

श्री सुबोधिनी

महान् पुरुषों द्वारा किये गये उपदेश का प्रकार साधन है। वह दूसरे श्लोकों में कहा जा चुका है। साधन का निरुपण करते हुए उसके अतिरिक्त साधनों का निरास करते हैं।

मूलमें "अन्ये" दूसरे के द्वारा यह सिद्ध है कि जो लोग दूसरे अर्थात् अनीश्वर वादी, सांख्य मतवाले वे लोग पहले ज्ञान का अनुसरण करके बाद में भगवान् की उपासना करते हैं। इस प्रकार बहुत जन्म में प्रवृद्ध हुवा ज्ञान-निष्कर्म सहित भगवदंशरुप आत्मत्व से स्फुरित हुवे को छोड़कर निरीश्वर साख्य वा मायावाद का अवलम्बन करता है। वे यदि पहले के समान भी रहें तो कृतार्थ हो सकते है (किन्तु वे ऐसा करते नहीं) कारण कि उनकी बुद्धि विकर्म फला है। वे लोग पूर्व ज्ञान के द्वारा देह, इन्द्रिय, प्राण, तथा अन्तःकरण के अध्यास से रहित हो गये हैं। अत्यन्त कष्ट से, सर्वस्व दान करके, संपूर्ण बन्धुओं का परित्याग करके, संपूर्ण सुख से विमुख होकर, तप के द्वारा, श्रद्धा के द्वारा ब्रह्म भावना को प्राप्त करते हैं यही उनका पर पद है। "ये" अर्थात् जो, यह उनकी प्रसिद्धि सूचक पद है। इनसे जो अन्य है वे भगवान् के सम्बन्ध में विचार नहीं करते है अतः वे भगवात् रहित है उनको भगवान् भी अन्य मानते हैं उनको भगवान् आत्मीय नहीं मानते हैं।

"अरविन्दाक्ष" कमलनयन इस पद के द्वारा वे असुर पक्षपाती है अतः वे भगवान् के स्वकीय नहीं है यह सूचित किया गया है। रात्रि में कमल विकसित नहीं होता है कि जिससे रात्रि में स्थित रहनेवाले (निशाचर=राक्षस) उसकी सुगन्ध प्राप्त कर सके। इन सब प्रकारों से वे (दैत्य) अन्य ही है। वे पूर्व वासना के द्वारा अपने को मुक्त मानते हैं अतः वे विमुक्त मानी हैं नहीं कि वे विमुक्त होगये हो: शास्त्र के द्वारा प्राप्त हुवे ज्ञान को विषय के समान आत्मा में ग्रहण करते हैं। अतः उसका उन्हें कोई फल नहीं है अन्य विषयों के समान यह भी अभि-जनक है। अतः आपके विषय में पूर्व स्थित भाव साधनत्व रुप से गृहीत होने के कारण वे भाव अस्तंगत होगये हैं, अतः उनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है; इसलिए अहंकारादि सम्पूर्ण दोषों का सम्बन्ध होने पर अपना अन्तःकरण दुष्ट होजाने पर भी वे महान् पुरुष ' हम दुष्ट हो गये हैं" ऐसा नहीं जान सकते हैं, और वे नहीं जानते हैं अतएव उससे मुक्त होने के लिये प्रयत्न भी नहीं करते हैं। अतः वे अविशुद्ध बुद्धिवाले हैं। बुद्धि की परम शुद्धि होने पर अपने दोष भी दिखाई दे सकते हैं। ज्ञान की पूर्वावस्था यही है कि अपने दोषों का दिखाई देना। अतएव कष्ट से भी उस परमपद ब्रह्म भाव को प्राप्त करके भी आपके चरणों का अना-दर करने के कारण उपर से नीचे गिरते ही हैं। जीव के प्रकृति से भी पर ऐसी उच्चगति को प्राप्त होने पर अवलम्बन रहित मार्ग में भगवच्चरणाविन्द को छोड़कर अन्य कोई अवलम्बन नहीं है। कारण कि आकाश विष्णु पद ही है। भगवच्चरणारविन्द के अवलम्बन से ही पुरुष का उर्ध्वगमन है, जैसे कि शृंखला द्वीप में श्रीपाद पर अरोहण करना हो तो शृंखला पकड़कर ही किया जाता है। इस चरण कमल को पकड़ रखने के परिश्रम का परित्याग मूल स्थित "अना-दृत" शब्द सूचित करता है। केवल भगवच्चरणाविन्द का आदर करने से ही पात नहीं होता है। आदर ही चरण स्थिति में हेतु है ॥ ३२ ॥

मू०—तथा न ते माधव तावकाः क्वचित् ,
भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भयाः;
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥ ३३ ॥

अर्थ—हे प्रभो, हे माधव। उस प्रकार से आप पर जिनका सौहृद हैं वैसे आपके भक्त अपने मार्ग से पतित होते नहीं हैं। आपके द्वारा रक्षित भक्तगण विघ्न करनेवालों की सेना के सिर के उपर भी निर्भय होकर विचरण करते हैं ॥ ३३ ॥

श्री सुबोधिनी

यहां शंका होती है कि—ऐसा होने पर भक्ति मार्ग के अनुसार भगवद्भजन में विकर्मादि के द्वारा कुछ समय के पश्चात् पुनः बुद्धिनाश का प्रसंग उपस्थित होता है, यदि यह स्वीकार किया जाय कि भक्तिमार्ग में साधन से ही सब कुछ होता है ? अतः दोनों तुल्य होने पर अन्य मार्ग को दूषण देने से कौनसा अर्थ सिद्ध हो सकता है ? इस प्रकार आशंका करके स्मार्त भगवन्मार्ग का फल कहते है--

हे माधव ! वे भक्त उस प्रकार (योगादि मार्ग) से प्रवृत्त होते हुए आपके द्वारा स्वीकृत होजाने पर आरोहणावस्था में भी नीचे नहीं गिरते हैं। प्रमाद से भी एक पाद मात्र नीचे नहीं गिरते हैं। मार्गारुह्यमाण स्वर्ग से भी नहीं गिरते हैं; कारण कि वह मार्ग ही ऐसा हैं। जिस प्रकार वस्तुओं के रक्षण करनेवालें में सुगन्ध की रक्षा करनेवाले को सौरभ प्राप्त होता ही है; लशुनादि के रक्षक कोइसके विपरीत ही प्राप्ति होती है। यदि स्वतन्त्र रूप से भगवान् की सेवा नहीं की जाय तथापि वे (भक्त) भगवान् के ही है; अतः उनका अधः पतन नहीं होता है। "माधव" संबोधन रात्रि में भी भक्तों को विलास द्वारा भगवान् दर्शन देते हैं यह सूचना करता है। इस तरह दोनों प्रकार के साधनों में विकर्म समान ही होते हुए सेवा परायण होने से उन (भक्तों) को भगवद्दर्शन होते हैं, अन्य को नहीं ऐसा निरुपण करने के लिये ',तावकाः" आपके भक्त ऐसा विशेषण मूल श्लोक में प्रयुक्त है।

उन भक्तों का अधः पतन इसलिये नहीं होता है कि वे लोग आपसे "सौहृद" रखते हैं। वे भक्त स्नेह से बन्धे हुवे हैं यहां पर रज्जु के स्थान पर स्नेह है। वह भक्त स्वयं को एवं जीव को भगवच्चरणारविन्द में बांधता है। अतः उसका अधः पतन नहीं होता है यह उपयुक्त ही है। यहां शंका होती है कि--वे काल आदि उनको नीचे क्यों नहीं गिरा देते है तथा उनकी भक्ति को भी नष्ट क्यों नहीं कर देते हैं ? तदर्थ मूल में कहा है कि-वे भक्तगण आपके द्वारा रक्षित है एवं निःशंक होकर सर्वत्र विचरण करते है। आपके द्वारा बाह्य एवं आभ्यंतर इस प्रकार चारों और से वे रक्षित हैं, अतः उनकी बुद्धि आदि के नाश की भी सम्भावान नहीं रहती है, इसीलिये उनका अधःपतन भी नहीं हो सकता है, और इसीलिये वे विचरण करते हैं। वे निर्भय हैं, अर्थात् कालादि के भय से रहित हैं। जो स्थान दूसरों के लिये छोड़ने योग्य अथवा भयप्रद है उसी स्थान पर ये लोग भ्रमण करते हैं इसी हेतु से मूल में में "विनायकानीकपमूर्धसु" ऐसा कहा है। "विनायक" अर्थात् विघ्नकर्ता। "वि" शब्द विघ्न-वाचक है। विघ्नों के नायक अर्थात् विघ्नों के उत्पन्न करनेवाले (ऐसे शत्रुओं की) सेना तथा सेनापतिओं के सिर पर भ्रमण करते हैं। विघ्न करने के लिये यदि एक व्यक्ति असमर्थ सिद्ध होता होतो उसकी सहायता के हेतु अन्य भी हैं।

यदि वे सब (सैनिक) स्वतन्त्र हों तो सेनापति के अभाव में वे कार्य नहीं कर सकते

है। अतः उनके साथ उनके रक्षक भी आते हैं। वैसे सेनापति भी बहुत से उनको गिराने के लिये आते हैं किन्तु आपके सुदर्शन के भय से स्पर्श किये विना दूर ही खडे रहते हैं। जैसा कि प्रल्हादजी के विषय में हुआ है। उन विघ्नकर्ताओं पर ही चढने के हेतु भगवद्भक्त अपना पांव उनके मस्तक पर रखते हैं। वे भक्तों को नीचे नहीं गिरा सकते हैं अतः सिर पर ही धारण करके रहते हैं, जिस प्रकार जड़भरत को मारने के लिये तैय्यार लोग प्रतिष्ठा के हेतु रुप हुए हैं। उनके मस्तक परम काष्ठापन्न संपूर्ण सामर्थ्य से युक्त होते हैं। तथापि वे लोग इस प्रकार से विचरण करते हैं इसमें कारण आपही है; यह सामर्थ्य भी आपका ही है। अतः वे समर्थ होते हुए भी द्वेष नहीं करते है। अतः भक्ति मार्ग से अन्य मार्ग साधन एवं फल दोनों को देखते हुए उपयुक्त नहीं है ॥ ३३ ॥

मू०—सत्वं विशुद्धं श्रयते भगवान् स्थितौ,
शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः ।
वेद क्रिया योग तपः समाधिभिः,
तवार्हणं येन जनः समीहिते ॥ ३४ ॥

अर्थ—स्थिति में; जीवों पर कल्याण करनेवाले उपायन उपहार रुप विशुद्ध सात्विक शरीर को आप धारण करते हैं; कि जिससे मनुष्यगण, वेदोक्तक्रिया, त्याग, तप और समाधि के द्वारा आपकी सेवा कर सकते हैं ॥ ३४ ॥

श्री सुबोधिनी

इस प्रकार स्मृति मार्ग के अनुसार भगवत्पक्षपात कहकर वैदिक मार्ग के अनुसार पहले के समान कहते है—

प्रवृत्ति मार्ग प्रतिपादक तथा निवृत्ति मार्ग प्रतिपादक इस प्रकार वेद के दो भेद हैं; और यह भी अधिकारी भेद से पुनः दो प्रकार का है !

वहां (वेद में) प्रवृत्ति मार्ग प्रतिपादक में, अर्थज्ञान, अध्ययन एवं अनुष्ठान ये ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ के अधिकार भेद से सिद्ध होते हैं।

तप, और आत्मा में स्थिति ये दोनों वानप्रस्थाश्रमी तथा सन्यासी को उनकी निवृत्ति के लिये क्रम से होते हैं। इस प्रकार वेद के अनुसार चारों आश्रमों में धर्मानुष्ठान दैत्यांश युक्त जीवों को भी समान ही होते है। सत्व मूर्ति भगवान् अपने "सत्व" को प्रकट करके सात्विकों में ही धार्मिक भावना को जाग्रत करते हैं तथा इसके विपरीत लोगों का निवर्तन करते है। यदि ऐसा नहीं हो तो चारों आश्रमों में कोई लोग तो अध्ययन तथा शास्त्रार्थादि करते तथा कोई नहीं करते है "ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती है। जगत् में सर्व धर्मों का पालन करने वाले वैदिक लोग ही प्रवर्तित होते हैं। अतः स्थिति में स्थित रहने के लिये जब आप (भगवान्) विशुद्ध सत्व गुणरुप को धारण करते हैं। तभी लोक में फैले हुए उस

सत्वगुण के द्वारा व्याप्त हुए चारों आश्रमों में स्थित जन; क्रम से—वेदाध्ययन, कर्मानुष्ठान, वनवासादि तप, तथा आत्म स्थिति—समाधि इन चारों प्रकार के धर्मों का सेवन करते हैं। शुद्ध हुए जीव ही आपकी सेवा कर सकते हैं।

वेद के द्वारा ही कार्य सिद्धि होती है तो सत्वगुण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार शंका करके निराकरण करते है कि—वे जीव शरीराभिमानी तथा विद्यमान शरीर वाले होते हैं यदि पहले से ही वे जान लेवे कि--शरीर से आत्मा भिन्न है तो कर्ता के समानाधिकरण वाला अदृष्ट उत्पन्न होता है; यदि देहान्तर में फल प्राप्ति होवे तो भूतसंस्कार कहा जाता है तथा इन दोनों के अभाव में फल दाता भगवान् की अपेक्षा होती है अतः कहा है कि—"श्रेय उपायनं" श्रेय के उपायन—उपहार रूप शरीर को आप धारण करते है। उप अर्थात् समीप से लाकर समर्पण करना; कारण कि यह "वपुष्" है। दैवगति से फल सिद्धि का ज्ञान नहीं होवे अतः यह कहा गया है फल सिद्धि हो भी जावे किन्तु यदि वह भगवद्भजन करने में सहायक नहीं हो तो फल सिद्धि क्षीण ही है तब पूर्व दोष की निवृत्ति नहीं होने के कारण फल सिद्धि क्षयिष्णु ही है। अतः वैदिक मार्ग में देवों के पक्ष को पोषण करने वाले सर्व धर्म प्रवर्तक भगवान् ही हैं। मूल में "जनः" यह एक वचनान्त प्रयोग जाति का अभिप्राय सूचित करने के हेतु है ॥३४॥

मू०—सत्वं न चेद् धातरिदं निजं भवेत्,
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्,
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥३५॥

अर्थ—हे धातः! यदि यह सत्व वपु नहीं हो तो अज्ञान को नाश करनेवाला विज्ञान भी नहीं हो सकता हैं : गुणों के प्रकाश द्वारा ही आपका अनुमान किया जा सकता है कि--जिसके तथा जिसके द्वारा गुण प्रकाशित हो रहे है ॥३५॥

श्री सुबोधिनी

ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ को श्रेय दान करने के हेतु भले ही सत्व हो; कारण कि उनको आत्म विवेक उत्पन्न हुआ ही नहीं है। ज्ञान तो सिद्ध फल का दान करने वाला है उसके द्वारा साक्षात् फल उत्पन्न होता है अतः वेदोक्त साधन में अथवा तप में भगवान् के सत्व वपु की आवश्यकता नहीं है इस प्रकार शंका करके उसका निराकरण करते है कि—

यदि आपका यह सर्व रक्षक एवं सर्व कर्म फल प्रद वपु नहीं होवे तो विज्ञान भी नहीं हो सकता है, कारण कि गीता में कथन है कि—"सत्वात्संजायते ज्ञानम्" सत्व से ज्ञान उत्पन्न होता है अतः सत्व का अभाव होने पर ज्ञान भी नहीं हो सकता है और शास्त्र सिद्ध सत्व के द्वारा भी ज्ञान नहीं हो सकता है कारण कि वह परकीय है। जिस क्षण में शास्त्रानुसंधान अथवा उसके लिये अनुष्ठान किया जाता है उसी समय सत्व भी उत्पन्न होता है

कारण कि वे उसके धर्म रुप है। यह निज सत्व है। उनके द्वारा भी अपने मूल कारण भूत सत्व का उत्पादन नहीं किया जा सकता है; कारण कि उनमें कर्तृत्व नहीं है और यह बात "धातः" इस सम्बोधन द्वारा स्पष्ट की गई है। विज्ञान अर्थात् अनुभव। वह अनुभव सत्व रुप अन्तःकरण में ही हो सकता है। जैसे जैसे वह शुद्ध होता जाता है वैसे वैसे अकामहत (निष्काम) होता जाता है। शुद्ध सत्व का अविर्भाव ही विज्ञान है। जिस प्रकार जगत् में अन्न उत्पन्न होने के पश्चात् क्षुधा उत्पन्न होतो अन्न प्राप्ति सुलभ हो सकती है और यदि प्रथम क्षुधा हो और बाद में अन्नोत्पत्ति हों तो यह ठीक नहीं है। अतः भगवान् द्वारा सत्व का अविर्भाव होने पर उनकी कृपा के द्वारा भगवान् के सहित सत्व भी हृदयमें प्रविष्ट होता है। दूसरी प्रकार से नहीं होता है। निषेध किया हुआ शास्त्रीय होगा? इस प्रकार शंका करके सत्व को विशेषण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

वह सत्य अज्ञान का नाशक हैं; तथा विज्ञान आत्मानुभव कहा जाता है। भगवद्विषयक विज्ञान भेद का नाश करता है। भगवान् का एवं आत्मा का दोनों का साक्षात्कार होनेपर देहाध्यास की निवृत्ति होती है तथा शुद्धाद्वैत स्फुटित होता है। वैसा ज्ञान; विषय एवं विषयी भाव से नहीं होता है। ऐसा विज्ञान पुरुषार्थ साधक है। भगवान् का आविर्भाव शुद्ध सत्व के बिना नहीं होता है। यदि ज्ञान में शुद्ध सत्व की अपेक्षा होती है तो तप में भी उसकी अपेक्षा होती ही है; उसका निरूपण प्रथक् नहीं किया गया है।

मूल में "न चेद्भवेत्" इस प्रकार के कथन में "इत्" शब्द से व्यतिरिक्त संपूर्ण का आवर्तन होता है इससे अर्थ अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है, कारण कि पदादि की रचना अर्थ के अनुसार होती है। 'अज्ञान भिद् विज्ञानं मार्जनमाप" कोई लोग ऐसा कहते हैं कि— अज्ञान के भेद को हरण करनेवाला विज्ञान सत्व के बिना प्रकट नहीं होता है; किन्तु यह कथन अनुचित है। यह सत्व स्वतः ज्ञान रुप होने से साधन में उसका उपयोग होवे और साधन के बिना ही भगवान् का अथवा आत्मा का अविर्भाव होवे तो सत्व की क्या अपेक्षा है? कारण कि लोक दृष्टि से इन्द्रियों का प्रकाश स्वकारण के प्रकाश का आक्षेपन करता है।

वहां पर प्रवर्तित होनेवाले भगवदाभिमानी जीव का प्रकाश तो अवश्यम्भावी है। अतः स्वकारण के अनुसन्धान से उसमें विशेष करनेवाले मल की निवृत्ति होने पर उन दोनों का प्रकाश होगा; इसलिये सत्व की कोई भी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। उस प्रकार पूर्वपक्ष करके कहते हैं—

आप गुणों के प्रकाश के द्वारा जाने जाते हैं, गुण अर्थात् इन्द्रियों के विषय, उनके प्रकाश के द्वारा अथवा ज्ञान के द्वारा प्रेरक जाना जा सकता है। आविर्भूत नहीं हुआ ऐसा वह; यह कार्य करता है; कारण कि अविर्भाव करे कौन? स्वरुप सत्व अथवा कार्यकारण भाव प्रकृति के प्रयोजक नहीं है। अविर्भाव जो सत्व के आधीन है ऐसा हम पहले कह गये है। प्रकाश भी कार्य के व्यतिरेक के बिना सम्भावित नहीं है। यदि ऐसा नहीं हो तो "गुण प्रकाश नहीं होता हैं" ऐसा कहना चाहिये। "जिसका सम्बन्धि गुण, प्रकाशित होता है अथवा जिसके द्वारा गुण प्रकाशित होता है, (ऐसा अर्थ करना चाहिये) किन्तु गुण को सम्बन्धि अथवा करण के प्रकाश की अपेक्षा नहीं है अतः भगवत्प्रकाश के लिये सत्व की आवश्यकता है।

मू०—न नाम रुपे गुण कर्म जन्मभिः,
निरुपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।
मनोवचोभ्यामनुमेयमर्त्मनो,
देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥ ३६ ॥

अर्थ—हे देव ! मन एवं वचन द्वारा; जिनके मार्ग का अनुमान होता है, ऐसे प्रसिद्ध साक्षी आपका नाम, रुप, गुण, कर्म एवं जन्म से निरुपण नहीं करना चाहिये; कारण कि आप क्रिया द्वारा ही प्रकट होते हैं ॥ ३६ ॥

श्री सुबोधिनी

इस प्रकार भगवान् के रुप मे प्रणाम, प्रमेय, भगवत् रूपात्मक वैदिक मार्ग के द्वारा विचार किये गये हैं। अब साधन का विचार करते हैं । सर्व पुरुषार्थों मे वैदिक मार्ग के अनुसार साधन भगवान् ही हैं । वे गुणातीत हैं । कारण कि वेद मे गुणों का अभाव हैं। फलदान करने के हेतु तथा देव पक्षपात के लिये भगवान् ने ऐसा कार्य किया है। अतः वे सगुण भगवान् साधन रूप है इस पक्ष का निराकरण करते हैं। वे भगवान नाम 'रूप' गुण, कार्य एवं जन्म के द्वारा निरुपण नहीं किये जाते हैं। साक्षी भगवान् संपूण कर्मों के फलदाता है कर्माध्यक्ष हैं । वे ही साधन हैं। गुणों के द्वारा जो कर्म एवं जन्म हैं; वे आप के नही हैं। किन्तु सद्रूप क्रिया शक्ति के ही द्वारा धर्म रूप से प्रकट ऐसा जो आपका आविर्भाव, वही "कर्म" है। तथा आनन्द रूप से प्रकटित आपका आविर्भाव, "जन्म" है। और उन जन्मों के द्वारा ही "नाम" एवं "रूप" भी हैं। अन्य प्राकृत हो जाने पर किसी भी प्रकार का पुरूषार्थ सिद्ध नही होता है अथवा कल्पान्तर मे वैसे नाम भले ही होवें किन्तु शास्त्र मे साधनत्व रूप से उनका निरूपण नही हो सकता है। यदि ऐसा हो जाय तो कर्म फल दातृत्व भी नही नही हो सकता है । कारण कि वैसे प्राकृत नाम, रूप, वाले को कर्माध्यक्ष भी नही कह सकते हैं।

यदि जो सगुण मन एवं वाणी द्वारा व्याप्त हो तो मानसिक एवं वाचनिक फल का ही दान कर सकते हैं। आत्म रूप अथवा भगवद्रूप फल का दान नही हो सकता है। भगवान् तो मन एवं वाणी द्वारा तर्क किये जा सके ऐसे ही मार्ग वाले हैं। प्रत्यक्ष नही हो सकते है। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" और "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः" इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा यह स्पष्ट है कि वे (भगवान्) प्रत्यक्ष गम्य नही है । तो फिर उनके नाम रूप ही नही है ? तदर्थ कहते हैं कि--नामरूप क्रिया द्वारा प्रकट होते है।

हे देव ! इस प्रकार का सम्बोधन कहकर सर्व पूज्यत्व प्रकट किया है। क्रिया श्रौती अथवा तांत्रिकी। "विष्णोर्नुकं" (विष्णु के ही वीर्य कहता हूं) "तदस्य प्रियम्" (वह इनका प्रिय है) "इदं विष्णुः" (यह विष्णु है) षडक्षरादि रामादि के मंत्रों में जिस देव के लिये हवि का ग्रहण होवे उसका मन से ध्यान करे; इत्यादि श्रुतिओं में ध्यानादिका विधान होने से नाम

रूप भगवान् के हैं; ऐसा तर्क शक्ति के द्वारा जाना जा सकता है। यदि नाम रूप नहीं होवें तो ध्यान एवं मंत्र भी नहीं हो सकते है। मूल स्थित "हि" शब्द यही निश्चयात्मक उपपत्ति सूचित करता है। इसीलिये क्रिया शक्ति द्वारा प्रतीति होती है। तथा जब प्रतीति नहीं होती है तब प्राकृत नहीं किन्तु दिव्य नाम, रुप, आनन्दमय हैं अतः वे पुरुषार्थ साधक हैं यह निरुपण किया गया है ॥३६॥

मू०—शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्,
नामानि रुपाणि च मंगलानि ते।
क्रियासु युष्मच्चरणारविन्दयोः,
आविष्ट चित्तो न भवाय कल्पते॥३७॥

अर्थ-आपके मंगलमय नाम रुपों को-सुनते हुवे, कहते हुए, स्मरण करते हुए, एवं चिन्तन करते हुवे, संपूर्ण क्रियाओं में आपके ही चरण कमलों में आविष्ट चित्त वाला पुरुष; पुनः जन्म की कल्पना नहीं करता है ॥३७॥

श्री सुबोधिनी

उन नाम रूपादि के द्वारा कौनसा फल प्राप्त होता है यह कहते हैं। वैदिक कर्म यदि सांग किये गये है तो वे अवश्य ही फल प्रदान करते हैं।

"यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपो यज्ञ क्रियादिषु, न्यूनं संपूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्" जिसके स्मरण तथा नामोच्चारण से तप, यज्ञ, तथा क्रिया आदि में यदि कोई न्यूनता हो तो वह उसी समय पूर्ण होती है; ऐसे उन अच्युत भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं। इस प्रकार के स्मृति वचन उपर्युक्त विषय में प्रमाण हैं। यदि संपूर्ण कर्म हुआ हो तो फल प्राप्ति होती ही है। उसका फल मोक्ष ही है। इसका वर्णन "स्वर्ग पद" का विचार करते समय निबन्ध में निरुपण किया है। वही यहां पर भी कहा है।

आपके नामों को सुनते हुए; दूसरों के द्वारा उच्चारण किये हुवे रुपों का कीर्तन करते हुवे इनको जो सुनता है तथा ग्रहण करता है; यह कार्य दोनों प्रकार के श्रोता हों तो ही हो सकता है। नहीं तो केवल मन से ही स्मरण किया जाता है वह स्मरण भी ध्यान रुप स्मरण हैं; मूल में "च" का भावार्थ यह है कि—वह भक्त अन्य भक्तों को भी नाम, रुप, आदि का स्मरण कराता है। योग के समान ध्यान करना यही चिन्तन हैं। चित्त का निरोध होना ही ध्यान है। प्रयत्न रहित चित्त का व्यापार होना स्मरण कहा जाता है तथा प्रयत्न से होनेवाला चित्त निरोध "चिन्तन" कहा जाता है।

वही रूप की कल्पना करने पर ध्यान कहा जाता है। मूल स्थित दूसरे "च" का यह भाव है कि भगवत्सम्बधि अन्य श्रवण भी फल साधक है। "भगवान् के नाम रुप मगलमय है" यह कहकर श्रवण कीर्तनादि में प्रतिबन्ध का अभाव प्रदर्शित किया गया है। यदि मंगलमय

नाम, रुप, नहीं होवे तो इच्छा होते हुवे भी कार्य सिद्धि नहीं होती है और वहां अन्य कर्तव्य की आवश्यकता हो जाती है (किन्तु नाम, रुप, मंगलमय है अतः अन्य कर्तव्य की आवश्यकता नहीं है) "ते" अर्थात् वे आपके मंगलमय नाम, रुप, । आपके साथ सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं में यज्ञों में अथवा भगवत्सेवा रूपी क्रियाओं में; जो आपके चरणारविन्द में आविष्ट चित्त वाला पुरुष होता है वह संसार के लिये समर्थ नहीं होता है।

कारिका—स्मरणे न क्रिया पूर्णाश्चित्तावेशश्चतत्र हि ।
ज्ञान क्रिये यदा विष्णुस्तदा मोक्षो न संशयः ॥

कारिकार्थ--स्मरण के द्वारा जब क्रिया पूर्ण होती है तब श्री हरि में चित्त का आवेश होता है तथा जब ज्ञान और क्रिया दोनों विष्णु होते है तब निश्चय ही मोक्ष होता है। इसमें संशय नहीं है।

इस प्रकार का भक्त सदोष होते हुवे भी संसार में समर्थ होता है और उपर्युक्त करने पर संपूर्ण दोषों की निवृत्ति हो जाने पर वह संसार में समर्थ नहीं होता है यह उपयुक्त ही है ॥३७॥

(क्रमशः)



मुद्रकः—सी. एम. शाह, मॉडर्न प्रिन्टरी खजूरी बाजार, इन्दौर.